भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में सुधारवादी प्रवृत्तियां

सुधार क्रांतियों के उप उत्पाद होते हैं । यह बात कम्युनिस्टों में लेनिन के जमाने से ही स्थापित है । लेकिन हर स्थापित बात की तरह इसका भी उल्लंघन होता रहा है । कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे लोग पैदा होते रहे हैं जो लेनिन की उपरोक्त बात को दोहराते हुए अपने को सुधारों तक सीमित करते रहे हैं, चाहे जान-बूझ कर चाहे अनजाने । ऐसे लोग सुधारों को ही अपनी कार्यवाहियों का मुख्य उत्पाद बना देते हैं और इस तरह सुधारवादी हो जाते हैं ।

कहने की जरूरत नहीं कि सुधार की कोई भी कार्यवाही, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो पूंजीवादी व्यवस्था के मूल चरित्र को नहीं बदल सकती । इसका सीधा सा कारण यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था में रूपान्तरण निजी सम्पत्ति के खात्मे और उसकी जगह सामाजिक सम्पत्ति की स्थापना की मांग करता है । और सुधारों की कैसी भी कार्यवाही निजी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में नहीं बदल सकती । केवल क्रांति ही ऐसा कर सकती है । इसलिये यह तो सम्भव है कि सुधारों की एक लम्बी प्रक्रिया के जरिये कोई सामन्ती समाज पूंजीवादी समाज में रूपान्तरित हो जाय, क्योंकि यह निजी सम्पत्ति के एक रूप का निजी सम्पत्ति के दूसरे रूप में परिवर्तन है लेकिन यह संभव नहीं है कि सुधारों के जरिये, पूंजीवादी समाज समाजवादी समाज में बदल जाय ।

यह भी कहने की जरूरत नहीं कि क्रांति, चाहे वह कितनी ही हिंसक और विध्वंसात्मक क्यों न हो, नये समाज को लाने का सबसे कम कष्टदायक तरीका है । सैकड़ों सालों की लम्बी सुधारवादी प्रक्रिया के जरिये सामंती समाज से पूंजीवादी समाज में रूपान्तरण के बदले एक झटके से क्रांतिकारी रूपान्तरण कहीं कम कष्टदायक और गुण की दृष्टि से ज्यादा अच्छा होता है ।

यह सब क्रांति का क-ख-ग है । और ये सब बातें कम्युनिस्टों में स्थापित रही हैं। कम्युनिस्टों में कोई भी खुले आम ऐसी बात नहीं कह सकता जो उपरोक्त बातों का खण्डन करती हों । वह तत्काल संशोधनवादी मान लिया जायेगा और बिरादरी से बाहर हो जायेगा ।

इस सब के बावजूद आज भारत का कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर बुरी तरह सुधारवाद से ग्रस्त है । इस शिविर में भांति-भांति की सुधारवादी प्रवृत्तियां विद्यमान हैं । कुछ लोग अपनी कार्यवाहियों में अपने को सुधारों तक सीमित रखे हुए हैं और क्रांतिकारी गतिविधियां उनकी दृष्टि-सीमा से ही बाहर हैं । कुछ लोग आत्मगत तौर पर तो लगातार क्रांतिकारी गतिविधियों में व्यस्त हैं लेकिन वस्तुगत तौर पर वे सुधार का ही कार्य कर रहे हैं । क्योंकि वर्तमान के मुख्य अंतर्विरोध पर ध्यान केन्द्रित करने के बदले वे अतीत के अवशेषों से लड़ रहे हैं । कुछ लोग अपने सवालों पर सुधारवादी दृष्टिकोण अपना रहे हैं । इनमें से केवल कुछ ही लोग हैं जो अपने सुधारवाद को सैद्धान्तिक जामा पहनाने को तैयार हैं । बाकी लोग क्रांतिकारी सिद्धान्त दुहराते हुए सुधारवाद कर रहे हैं ।

इस लेख में हम भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में मौजूद भांति-भांति के सुधारवाद और विभिन्न सवालों पर अपनाये जा रहे सुधारवादी दृष्टिकोण की चर्चा करेंगे और अंततः उनके कारणों को तलाशने का प्रयास करेंगे ।

मुकम्मल सुधारवाद

करीब एक शताब्दी पहले यूरोपीय मजदूर आन्दोलन में सुधारवाद ने अपनी अंतिम परिणति संशोधनवाद के रूप में पायी थी । जर्मनी के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में एक सुधारवादी प्रवृत्ति लम्बे समय से विद्यमान थी । जब तक एंगेल्स जिन्दा थे तब तक यह प्रवृत्ति एक सीमा के भीतर अपने को छिपाये हुए थी । लेकिन उनके मरने के बाद इसने खुल्लम-खुल्ला सिर उठाया और अपने सुधारवाद को सैद्धान्तिक जामा पहनाते हुये मार्क्सवाद में संशोधन करने का एक पूरा दर्शन ही पेश कर दिया । इसके प्रस्तोता एडवर्ड बर्नस्टीन और कोनार्ड स्मिथ थे ।

इन लोगों ने कहना शुरू किया कि पूंजीवाद के विकास के साथ मार्क्सवाद की प्रस्थापनायें पुरानी पड़ गई हैं, कि पूंजीवाद उस रूप में विकसित नहीं हुआ जिस रूप में मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी, कि पूंजीवाद में संकट गहराने के बदले इसका संकट कम हो रहा है या गायब हो गया है, कि अमीरी और गरीबी के बीच खाई घट रही है, कि मजदूर वर्ग बदहाली की तरफ जाने के बदले मध्यम वर्ग की तरफ बढ़ रहा है, कि पूंजी का संकेन्द्रण होने के बदले मध्यमवर्ती पूंजी की संख्या बढ़ रही है, कि इन सब कारणों से क्रांति असंभव और निरर्थक हो गयी है, कि क्रमिक सुधारों के जरिये समाजवाद की ओर बढ़ा जा सकता है, कि आन्दोलन ही सब कुछ है अन्तिम लक्ष्य कुछ भी नहीं ।

इन सबको आगे बढ़ाते हुये उन्होंने सीधे मार्क्सवादी दर्शन पर ही प्रहार किये तथा द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद में संशोधन की बात करने लगे । उन्होंने वर्ग संघर्ष के जरिये इतिहास के विकास तथा उसकी परिणति के तौर पर सर्वहारा क्रांति, सर्वहारा तानाशाही और अन्त में कम्युनिज्म की स्थापना के सिद्धान्त को नकारा तथा नारा पेश किया कि हमें दर्शन के क्षेत्र में कांट की ओर लौटना चाहिये ।

एडवर्ड बर्नस्टीन तथा कोनार्ड स्मिथ के नेतृत्व में इन सुधारवादियों-संशोधनवादियों के खिलाफ प्लेखानोव, लेनिन तथा रोजा लक्जेमबुर्ग ने मोर्चा संभाला और उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों का विश्लेषण कर साबित किया कि वे न केवल तथ्यतः गलत हैं बल्कि वे उन सिद्धान्तों जुगालीभर हैं जिन्हें बुर्जुआ वर्ग दशकों से मार्क्सवाद के खिलाफ पेश कर रहा था ।जैसा कि रोजा लक्जेमबुर्ग ने कहा अवसरवाद को अपना मुंह खोलने की देर थी और उसने तुरन्त अपना सैद्धान्तिक दिवालियापन साबित कर दिया ।'हम आश्चर्य से देखते हैं कि क्या अवसरवाद बस इतना ही कह सकता था !'

सैद्धान्तिक तौर पर अपना मुंह खोलते ही सुधारवाद पराजित हो गया और यह पराजय इतनी ज्यादा मुकम्मल थी कि तब से संशोधनवाद कम्युनिस्टों के बीच सबसे बुरी गाली हो गया । किसी पर संशोधनवाद का ठप्पा लगने की देर है कि वह बिरादरी से बाहर हो जायेगा ।

लेकिन यह चीज सबको नहीं डरा सकती । कुछ महान हस्तियां होती है जो इन बातों से नहीं डरती और अपने रास्ते पर निर्भीक बढ़ती रहती हैं । पहली बार संशोधनवाद के पैदा होने के सौ साल बाद मुकम्मल सुधारवादियो की एक नयी पौध तैयार हो गयी है और क्रांतिकारी आन्दोलन में अपने को पेश कर रही है । सुविधा के लिये हम इन्हें उत्तर-आधुनिक कम्युनिस्ट कह सकते हैं क्योंकि इनकी कई बातें, खास कर नये सामाजिक आन्दोलनों पर जोर, उत्तर-आधुनिकतावादियों से मिलती-जुलती हैं ।

अतीत काल से लेकर वर्तमान तक के सारे सुधारवादियों की यह विशेषता रही है कि ये लोग पूंजीवादी व्यवस्था की ताकत, उसकी स्थिरता, उसके **टिकाऊपन** को बढ़ा-चढ़ा कर आंकते रहे हैं तथा उसके संकट और अन्तर्विरोधों को कम करके । सुधारवादियों तथा क्रांतिकारियों के बीच लगातार यह फर्क मौजूद रहता है कि सुधारवादी संकट के बावजूद व्यवस्था के **टिकाऊपन** पर जोर देते हैं जबकि क्रांतिकारी **टिकाऊपन** के बावजूद उसके संकट पर, अंतर्विरोधों पर । सुधारवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों को धूमिल करते हैं जबकि क्रांतिकारी उसे उजागर करते हैं । सुधारवादी शांति और ठहराव के दौर में केवल निराशा देखते हैं जबकि क्रांतिकारी भविष्य की आशा की किरण । सुधारवादी वर्तमान पर ध्यान केन्द्रित किये हुए अतीत का हिस्सा बन जाते हैं जबकि क्रांतिकारी वर्तमान पर खड़े रह कर भी भविष्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और इस तरह भविष्य के मालिक बन जाते हैं । एक वर्तमान में दृढता से जमे हुए पीछे छूट जाता है और इतिहास में विलीन हो जाता है जबकि दूसरा डगमगाते हुए कदमों से आगे भविष्य में प्रवेश कर जाता है । एक केवल वर्तमान को देखता है,दूसरा वर्तमान और भविष्य दोनों को । एक अन्तर्विरोधों के केवल एक पहलू को देखता है,दूसरा दोनों को । एक की दृष्टि एकांगी होती है, दूसरे की समग्र ।

दृष्टि और जोर का फर्क मामूली नहीं होता । इससे निश्चित रणनीति और कार्यनीति निकलती है जो दोनों को दो भिन्न दिशाओं में और अंततः दो भिन्न परिणामों तक ले जाती है। एक सुधार की कार्यवाहियां करते-करते व्यवस्था का अंग बन जाता है तथा सर्वहारा क्रांति के समय पूंजीवादी व्यवस्था की हिफाजत करता हुआ पाया जाता है तो दूसरा पहले का तख्ता पलटकर क्रांति करता हुआ । अंततः दोनों एक दूसरे के विपरीत दुश्मनाना पाले में खड़े हो जाते हैं । कभी एक ही पार्टी में रहे लोग क्रांति के समय एक दूसरे पर गोलियां दाग रहे होते हैं। क्रांति की यही द्वन्द्वात्मक गति है ।

हमारे वर्तमान मुकम्मल सुधारवादी अथवा उत्तर-आधुनिक कम्युनिस्ट भी पूंजीवादी व्यवस्था के टिकाऊपन से शुरू करते हैं । वे यहां से सवाल उठाते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था तो उससे ज्यादा टिकाऊ साबित हुयी है जितना सोचा गया था । इसने बहुत ज्यादा जीवन शक्ति का परिचय दिया है और भांति-भांति की चुनौतियों से निपटने की क्षमता प्रदर्शित की है ।

यहां से आगे बढ़ वे यह कहना शुरू करते है कि साम्राज्यवाद का अपनी औपनिवेशिक नीति के बेतुकेपन का, उसके हानिकारक चरित्र का एहसास हो गया है । वह उपनिवेश समाप्त कर मुक्त प्रतियोगिता और पूंजी के निर्बाध संचरण की ओर बढ़ रहा है । पूंजी का संकेद्रण बढ़ नहीं रहा है बल्कि बड़ी पूंजी की संख्या बढ़ रही है और नये-नये बड़े निगम पैदा हो रहे हैं । इन बड़ी पूंजियों के बीच तथा देशों के बीच टकराव के बदले एकता बढ़ रही है क्योंकि पूंजियों का

सम्मिलन हो रहा है और सबका हित इस बात में है कि लड़ने-झगड़ने के बदले पूंजी के नियम से चला जाय यानि मुक्त प्रतियोगिता के उसूल का पालन किया जाय ।

जहां तक समाज के वर्ग विरोधों की बात है तो अधिक विकसित पूंजीवाद में मजदूर भी कल्याणकारी राज्य के चलते खुशहाल हैं तथा अपने वेतन को शेयर से प्राप्त लाभांश से प्रतिपूरित कर रहे हैं । इस तरह समाज में मध्यवर्गीय हिस्सा बढ़ रहा है और वर्ग विरोध धूमिल हो रहे हैं । यही नहीं अधिक विकसित पूंजीवादी समाज में वर्ग विरोध का संरचनात्मक स्तर नीचे चला गया है । जबकि नये सामाजिक आन्दोलनों का परिघटनात्मक स्तर ऊपर है । केवल नये सामाजिक आन्दोलनों के परिघटनात्मक स्तर पर हस्तक्षेप कर ही समाज में परिवर्तन को अंजाम दिया जा सकता है । स्वाभाविक ही यह परिवर्तन केवल सुधारात्मक हो सकता है । सुधारों की एक लम्बी श्रृंखला के जरिये हम आगे बढ़ सकते हैं । 'सुधार ही सब कुछ है , अंतिम लक्ष्य कुछ भी नहीं ।' सुधार जिंदाबाद! दलित आन्दोलन-नारी आन्दोलन जिंदाबाद ! अंबेडकर जिंदाबाद ! 'बहन' मायावती जिंदाबाद ! इन सबकी आलोचना करने वाले कम्युनिस्ट मुर्दाबाद ! और मार्क्स-लेनिन? अं-अं-अं ... हम कुछ नहीं कहते ... लेकिन नहीं, हम कुछ कहेंगे ।

और अंततः इन्होंने आगे बढ़कर मार्क्सवाद में संशोधन का प्रस्ताव पेश कर दिया है, सभी संशोधनवादियों की तरह चुपके-चुपके और मार्क्सवाद से अलग कोई बात न कहने की मुद्रा धारण किये हुये । जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्तर पर इन्होंने संरचना-परिघटना की अपनी नयी थीसिस पेश की है । इसके अनुसार सभी चीजों के दो स्तर होते हैं, एक संरचनात्मक और दूसरा परिघटनात्मक । संरचना नीचे छिपी होती है और हमारी पहुंच केवल परिघटना तक होती है । परिघटना के स्तर पर ही कार्यवाही कर हम संरचना को प्रभावित कर सकते हैं ।

इन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद में भी संशोधन किया है । इनके अनुसार सभी सामाजिक परिघटनाओं के अंतिम कारक के तौर पर किसी आर्थिक आधार या उत्पादन प्रणाली को खोजना मार्क्सवाद नहीं है । उत्पादन प्रणाली वह नींव है जो समाज को खोदने से निकल आयेगी ।

मार्क्स से आगे ये लोग लेनिन पर भी पहुंचते हैं और घोषित करते हैं कि सर्वहारा पार्टी के लिये यह जरूरी नहीं कि उसमें सर्वहारा भौतिक तौर पर मौजूद हो । सर्वहारा पार्टी में पेशेवर क्रांतिकारियों की केन्द्रीयता पर सवाल उठाते हुए ये लोग पार्टी की गोपनीयता को तकनीकी सवाल बना देते हैं तथा घोषित करते हैं कि बलिदान, समर्पण और प्रतिबद्धता जैसे गुण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं ।

पहली नजर में देखने पर ही यह आश्चर्य होता है कि इन लोगों द्वारा प्रस्तुत ये सिद्धान्त इनसे ठीक सौ साल पहले एडवर्ड बर्नस्टीन और कोनार्ड स्मिथ द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों से कितना ज्यादा मिलते-जुलते हैं । ऐसा लगता है कि बर्नस्टीन और स्मिथ ही चोला बदल कर सौ साल बाद आ उपस्थित हुये हों । बस बदले हुए जमाने के हिसाब से इनके ऊपर उत्तर-आधुनिकतावादियों का छोंका भर है ।

मार्क्सवाद विरोधी विचारों की, चाहे वे कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर से पैदा हुए हों या सीधे बुर्जुआ वर्ग से, यह विशेषता रही है कि वे मार्क्सवाद के खिलाफ पुराने तर्कों को ही नयी शब्दावली में पेश करते हैं । वे अन्य शब्दों में उन्हीं

तर्कों को दोहराते है जिन्हें मार्क्सवाद अपनी पैदाइश के समय ही पीछे छोड़ आया था या जिन्हें उसने बहस में पराजित कर दिया था । उनका सारतत्व हमेशा ही बना रहता है, बस रूप बदल जाता है ।

'वैश्वीकरण' की लगातार बात करते हुए भी ये उत्तर-आधुनिक कम्युनिस्ट पूंजीवाद को वैश्विक पैमाने पर और समग्र रूप में देखने में अक्षम हैं । ये उत्तरी-अमेरिका और पश्चिमी- यूरोप की समृद्धि देखते हैं लेकिन अफ्रीका की कंगाली नहीं, ये दक्षिण-कोरिया देखते हैं लेकिन लाओस और कम्पूचिया नहीं, ये दक्षिण-अफ्रीका देखते हैं लेकिन अफगानिस्तान नहीं,ये साम्राज्यवादियों की एकता देखते हैं लेकिन इराक के मामले पर इनका झगड़ा नहीं, ये व्यवस्था के टिकाऊपन को देखते हैं लेकिन पिछले तीस सालों के आर्थिक ठहराव को नहीं, ये औरतों, काले लोगों के आन्दोलन को देखते हैं लेकिन लाखों मजदूरों की हड़तालों और मार्च को नहीं, ये लोगों के रोजमर्रा के जीवन को देखते हैं व्यवस्था से तीखे आक्रोश को नहीं, ये शासकों के शासन को देखते हैं लेकिन पूरी दुनिया के पैमाने पर मची हुयी उठा-पटक को नहीं । इनकी नजरों से दक्षिण, दक्षिण-पूर्व एशिया, अफ्रीका और दक्षिण-अमेरिका या यहां तक कि पूर्वी-यूरोप गायब हो जाते हैं; इनकी नजरों से विकसित देशों की दस प्रतिशत बेरोजगारी और घेट्टो बस्तियां गायब हो जाती है; इनकी नजरों से कोसोवो, अफगानिस्तान, इराक, फिलिस्तीन गायब हो जाते हैं; इनकी नजरों से ट्विन टावर और ओसामा बिन लादेन गायब हो जाते हैं । ये सब गायब हो जाते हैं और बच जाता है केवल अधिक विकसित पूंजीवाद और इसके नये सामाजिक आन्दोलन । सुधारवाद की एक मुकम्मल परियोजना तैयार हो जाती है । बस इसे G-8 से पास कराने की और विश्व बेंक से फाइनेंस की देर रह जाती है ।

II

किसान सवाल पर सुधारवादी दृष्टिकोण

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर में किसान के सवाल पर सुधारवादी दृष्टिकोण मूलतः दो रूपों में अपने को अभिव्यक्त करता है-एक, छोटे किसानों के प्रति रुख में, दूसरा, धनी किसानों के प्रति रुख में ।

क्रांतिकारी शिविर में जब भी छोटे किसानों का सवाल उठता है तो मूलतः उसकी तबाह होती हालत का बयान किया जाता है कि वह कैसे कर्ज में डूबा है और उसकी जमीन छिन रही है । लेकिन सारा बयान रोने या विलाप करने के अन्दाज में होता है । इसमें कहीं भी यह सम्प्रेषित नहीं होता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत छोटे किसान की यही नियति है । पूंजीवाद का सारा विकास छोटे किसान को इस तबाही की ओर धकेलता है । हद तो तब होती है जब छोटे किसान की इस तबाही के लिए पूंजीवादी व्यवस्था को नहीं बल्कि अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया जाता है ।

इन सबका निहितार्थ यह निकलता है कि यदि अर्ध-सामन्ती व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये तथा पूंजीवादी सम्बन्धों को खुल कर विकसित होने का मौका दिया जाय तथा यदि जमीनें किसानों में वितरित कर दी जायें तो छोटे किसानों की यह तबाही रुक जायेगी । बात भले ही नव-जनवादी क्रांति की की जाय तथा इस क्रांति के पूरा होने पर खेती के सामूहिकीकरण की घोषणा की जाय, लेकिन समस्या का उपरोक्त ढंग का प्रस्तुतीकरण केवल उपरोक्त समाधान तक ही

पहुंचाता है । न केवल सारे किसान इसे इसी रूप में ग्रहण करते हैं बल्कि क्रांतिकारी संगठन भी 'किसान बचाओ,देश बचाओ' का नारा देने लगते हैं ।

पूंजीवादी व्यवस्था में ही नहीं, अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था में भी किसान को बचाना असंभव है। पूंजीवाद का विकास किसानों के विभेदीकरण को जन्म देता है और अधिकांश किसानों को मजदूर बनाने की तरफ तथा कुछ को धनी किसान बनाने की तरफ धकेलता है । इस तरह 'किसान' की तबाही पूंजीवाद के विकास के साथ अनिवार्य है । एक वर्ग के बतौर इसका खात्मा धीमे-धीमे अनिवार्य है । यही नहीं भविष्य के समाजवादी समाज के दृष्टिकोण से यह एक प्रगतिशील कदम है (और हमारा केवल यही मापदण्ड हो सकता है)। इसी लिये इस प्रक्रिया को रोकने की कोई कार्यवाही प्रतिक्रियावादी बन जाती है। तथा 'किसान बचाओ' का नारा प्रतिक्रियावादी नारा बन जाता है । 'किसान बचाओ-देश बचाओ' के नारे के तहत मूलतः तीन चीजें प्रस्तावित की जाती हैं; जमीनों का पुनर्वितरण, कृषि में आगतों के मूल्यों में कमी तथा कृषि-उत्पादों के मूल्यों में वृद्धि ।

जमीनों का पुनर्वितरण केवल उसी दशा में प्रगतिशील कदम हो सकता है जब यह पुनर्वितरण पुराने भूमि सम्बन्धों को तोड़ने में मदद करे । सामंती या अर्ध-सामन्ती व्यवस्था में जमीन सामंत या जमींदारों की होती है जबकि उसको जोतने-बोने वाला किसान होता है जो नकद या जिंस के रूप में लगान देता है । इस समय 'जमीन जोतने वाले नारा' की देने का मतलब होता है सामंती सम्बंधों पर प्रहार। इसीलिए यह नारा प्रगतिशील नारा होता है तथा जनवादी क्रांति की धुरी बन जाता है । लेकिन जब ज्यादातर जमीन खुदकाश्त हो और दूसरे के खेत पर काम करने वाले लोग लगान पर खेत जोतने वाले न हों बल्कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर हों तब यह नारा स्वतः ही प्रासंगिकता खो देता है । यही नहीं यह प्रतिक्रियावादी नारा बन जाता है क्योंकि यह बड़े पूंजीवादी फार्मों को खेत मजदूरों के बीच बंटवारे तक जा पहुंचता है । उत्तरांचल की तराई में तो यह मांग व्यवहारतः उठ चुकी है ।

यहां यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि चूंकि किसानों को जमीन की भूख है इसलिए इस भूख को शांत किये बिना हम समाजवाद की ओर नहीं बढ़ सकते । किसान को स्वभावतः जमीन की भूख होती है और यह कितनी भी जमीन से शांत नहीं होती । यहां तक कि यह भूख खेत मजदूर या फैक्ट्री मजदूर बन जाने पर भी लम्बे समय तक बनी रहती है । कम्युनिस्ट क्रांतिकारी यह लुत्फ नहीं उठा सकते कि वे किसान की इस भूख के सामने आत्मसमर्पण कर दें । वे लालच का तुष्टीकरण करने के बदले छोटे किसान की पूंजीवाद के तहत अनिवार्य तबाही को बताते हुए उसे सामूहिकीकरण के समाधान की ओर ले जाने के लिये कर्तव्यबद्ध हैं ।

कृषि में आगतों के दाम और कृषि उत्पाद के अधिक दाम की मांग उठाकर भी छोटे किसान को बचाया नहीं जा सकता बल्कि सामान्य रूपों में सभी किसानों के लिये इस मांग का उठाने और किसी हद तक मनवाने से सबसे ज्यादा फायदा धनी किसानों को ही होता है । सबसे पहले तो सामान्य रूप में सभी किसानों के लिये इस मांग का उठाने के बदले इसकी सीमा-रेखा तय की जानी चाहिये तथा धनी किसानों को इस मांग के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिये । दूसरे यह मांग उठाते हुए भी छोटे-मध्यम किसानों के सामने बारंबार यह बात स्पष्ट की जानी चाहिये कि इन मांगों के माने जाने के

बावजूद वे दूरगामी तबाही से बच नहीं सकते, कि यह ज्यादा से ज्यादा वक्ती राहत हो सकती है, कि एकमात्र समाधान समाजवाद है । किसी भी तरह उनके सामने यह भ्रम नहीं पैदा होना चाहिये कि इन मांगों से उनकी तबाही रुक सकती है, कि वे खुशहाल हो सकते हैं ।

संक्षेप में यह कि किसानों के सामने बारंबार यह प्रस्तुत किया जाना चाहिये कि उनकी तबाही से मुक्ति का एकमात्र रास्ता समाजवाद है । खुले शब्दों में और बार-बार यह न कहने तथा किसानों को तबाही से बचाने की सारी बातें और कार्य पहले दरजे का सुधारवाद है ।

यहीं पर और एक बात गौर करने की है । आम तौर पर किसानों की बात करते हुए न केवल धनी किसानों को साथ ले लिया जाता है बल्कि इससे भी बड़ी बात यह है कि खेतीहर सर्वहारा, कम्युनिस्टों का अपना वर्ग, कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की नजर से गायब हो जाता है । यह विचित्र विडम्बना है लेकिन सच यही है कि सर्वहारा के अगुआ दस्ता कम्युनिस्ट देहातों के सर्वहारा को भूल जाते हैं और किसानों के नुमाइन्दा बन कर रह जाते हैं । यह देखते हुए कि ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन मुख्यतः देहातों में ही काम कर रहे हैं तथा शहरी सर्वहारा के बीच उनका आधार न के बराबर है, इस बात की गंभीरता को समझा जा सकता है ।

कम्युनिस्टों को बहुत कठोरता के साथ खेतीहर सर्वहारा और किसानों के बीच फर्क करना चाहिये । यही नहीं उन्हें सभी किसानों का मिला-जुला संगठन बनाने तथा उसमें सर्वहारा को भी शामिल करने के बदले - किसान मजदूर संगठन के रूप में - देहाती सर्वहारा के अलग संगठन बनाने चाहिये । यदि भाकपा (माले) लिबरेशन जैसे संशोधनवादी अनुभववादी तरीके से इस ओर बढ़ रहे हैं तो कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठनों को दृढ़ सैद्धान्तिक आधार पर इस ओर बढ़ना चाहिये। ऐसा न करना देहातों में वर्ग विरोधों को धूमिल करना तथा वर्ग-संघर्ष के रास्ते में बाधा खड़ी करना होगा। धनी किसान तो चाहते ही हैं कि छोटे-मध्यम किसान ही नहीं देहाती सर्वहारा तक उनके मातहत गोलबंद हों ।

वर्ग विरोध को धूमिल करने वाली यह कार्यनीति एक और परिणाम तक पहुंचाती है । ज्यादातर धनी किसान 'उच्च' या 'मध्यम' जातियों के होते हैं । ऐसे में किसान-मजदूर संगठनों में इनकी उपस्थिति खेत मजदूरों को, जो ज्यादातर दलित-पिछड़े होते हैं, स्वतः ही बसपा जैसी पार्टियों की ओर धकेल देती है । यदि धनी-मानी लोगों के पीछे चलना ही है तो क्यों न अपनी जाति के लोगों के पीछे चला जाय ! अपनी जाति के लोगों के प्रति आकर्षण, दूसरी जाति के धनी लोगों के प्रति गुस्से और प्रतिकर्षण का पूरक बन जाता है ।

यहीं से हम किसान सवाल पर सुधारवाद के दूसरे मूल बिन्दु पर पहुंचते हैं । ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन भारत में नव-जनवादी क्रांति की मंजिल को सूत्र के रूप में स्वीकार करते हैं और यहीं से प्रस्थान कर वे धनी किसानों को क्रांति का ढुलमुल दोस्त मानते हैं । उनका मानना है कि साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रांति में धनी किसान ढुलमुल दोस्त की भूमिका अदा करेंगे ।

लेकिन यदि क्रांति की मंजिल नव-जनवादी न हो तो ? यदि समाज अर्द्ध-सामन्ती के बदले पूंजीवादी हो चुका हो ? यदि देहातों में लड़ने के लिये कोई सामंत न बचा हो ? तब साफ है कि हम दुश्मन को दोस्त बना रहे होंगे । जिसके

खिलाफ लड़ना चाहिये उसे अपना सहयेागी मान रहे होंगे तथा एक अस्तित्वविहीन शत्रु के खिलाफ गोला-बारूद खर्च कर रहे होंगे ।

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन की त्रासदी यह है कि जब भी भारत के देहातों में सामंतों और जमीदारों को खोजने की बात आती है तो जमीनों के बड़े-बड़े रकबे का जिक्र किया जाता है-फलां के पास सौ एकड़ जमीन है तो फलां के पास हजार एकड़ । इसमें भूमि सम्बन्धों की बात सिरे से गायब होती है । जब सामंती सम्बन्धों के दिखाने की बात उठती है तो तो मामला ले-दे कर अधिरचना में पहुंचता है ।

संक्षेप में यह कि भारतीय खेती मूलतः पूंजीवादी हो चुकी है तथा सामन्ती सम्बन्ध मूलतः समाप्त हो गये हैं । जो कुछ बचे हैं वे वास्तव में अवशेष हैं और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इन अवशेषों को क्रांति का मूल लक्ष्य नहीं बना सकते । ऐसे में धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर ही देहातों के मुख्य शोषक और शासक बन गये है । ये ही क्रांति के मुख्य निशाने हैं । ये क्रांति के ढुलमुल दोस्त नहीं क्रांति के दुश्मन हैं ।

अब क्रांति के इन दुश्मनों के लिए इससे अच्छी बात क्या होगी कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इन्हें दुश्मन मानने के बदले अपना दोस्त मानें और ऐसी मांगों के लिए लड़ें जिससे मूलतः इन्हें ही फायदा होता हो । इन्हें दुहरा फायदा होता है । न केवल कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इनके खिलाफ नहीं लड़ते बल्कि वे इनके लिये लड़ते हैं ।

वस्तुगत तौर पर सुधारवाद और वर्ग सहयोग का यह सबसे बुरा नमूना है । इनकी तुलना केवल 1950 व '60 के दशक के नेहरू सरकार के प्रति भाकपा के रुख से ही की जा सकती है जिसकी चरम परिणति भाकपा के इंदिरा गांधी की पूंछ बन जाने में हुयी ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का धनी किसानों के प्रति यह दृष्टिकोण वस्तुगत तौर पर सुधारवादी है क्योंकि यह देश-काल की ठोस स्थिति व जरूरत के पीछे रह जाता है । लेकिन वस्तुगत तौर पर सुधारवादी होने के कारण यह कम खतरनाक नहीं है । यही नहीं वस्तुगत तौर पर सुधारवाद कालान्तर में आत्मगत तौर पर सुधारवाद - अवसरवाद और संशोधनवाद को जन्म देता है ।

अंत में एक बात और । ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन नव-जनवादी क्रांति को कुछ इस रूप में प्रस्तुत करते हैं मानो यह सामंती-साम्राज्यवादी सम्बन्धों के खात्मे के तत्काल बाद यथा-शीघ्र समाजवाद की ओर बढ़ना न हो बल्कि कुछ ऐसी क्रांति हो जो इन सम्बंधों को समाप्त कर पूंजीवादी विकास के लिये ज्यादा बेहतर परिस्थितियां तैयार करती है । जिस रूप में वे नव-जनवादी क्रांति को प्रस्तुत करते हैं उसका प्रकारान्तर से यही मतलब निकलता है । कहने की बात नहीं कि यह माओ नहीं ल्यू शाओ ची और डेंग स्याओ पिंड. की लाइन है । इसको अपनाने का मतलब सुधारवाद के दलदल में धंसना है ।

III

मजदूर मोर्चे पर सुधारवाद

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन की एक विशेषता यह भी है कि देश में अपेक्षाकृत मजबूत उपस्थिति के बावजूद मजदूर आन्दोलन में इसकी उपस्थिति नाममात्र की या प्रतीकात्मक है । ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन देहात में जमे हुए हैं और औद्योगिक मजदूरों के बीच इनका काम न के बराबर है । यह विचित्र किन्तु सत्य है कि मजदूरों के हिरावल कम्युनिस्ट मजदूरों के बीच नहीं बल्कि किसानों में जमे हुए हैं और समूचे मजदूर आन्दोलन को उन्होंने बुर्जुआ पार्टियों या भाकपा-माकपा जैसे संशोधनवादियों के हवाले छोड़ दिया है ।

जिन संगठनों का थोड़ा-बहुत काम मजदूरों के बीच है भी उनका भी घोषित या अघोषित उद्देश्य यह है कि मजदूरों के बीच से संगठनकर्ताओं की भर्ती की जाय तथा उन्हें नव-जनवादी क्रांति हेतु किसानों को गोलबन्द करने के लिये देहात भेजा जाय । खुद मजदूर वर्ग को क्रांति के लिए गोलबन्द करना इनका उद्देश्य नहीं होता । इस तरह मजदूर वर्ग 'नव जनवादी क्रांति का नेतृत्व करेगा' इसका अर्थ इनके लिये यह रह जाता है कि मजदूरों की तरफ से उनकी पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी इस क्रांति का नेतृत्व करेगी तथा मजदूरों की भूमिका महज इक्का-दुक्का संगठनकर्ताओं की रह जाती है । मजदूर-किसान एकता का भी यही अर्थ रह जाता है कि मजदूर संगठनकर्ता देहात जाकर किसानों से एकता कायम करते हैं । इस तरह एक वर्ग के बतौर मजदूर वर्ग नव-जनवादी क्रांति से गायब हो जाता है । यह माओ की नव-जनवादी क्रांति की अवधारणा का विद्रूपीकरण है तथा रूसी और चीनी दोनों क्रांतियों के सबकों का निषेध है ।

उपरोक्त सब के बाद कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का मजदूर वर्ग के बीच जो भी थोड़ा-बहुत काम है उसका अधिकांश सुधारवाद से बुरी तरह ग्रस्त है । इसकी दो मुख्य अभिव्यक्तियां है । एक, मजदूर आन्दोलन को आर्थिक संघर्षों तक सीमित रखना तथा दो, कानूनवाद ।

लेनिन के जमाने से ही कम्युनिस्टों के बीच यह बात स्थापित रही है कि आर्थिक संघर्ष कम्युनिस्टों का मुख्य कार्यभार नहीं है । कि राजनीतिक संघर्ष ही उनका प्रमुख कार्यभार है और वह भी क्रांति के लिये मजदूरों को तैयार करने का ।

ट्रेड-यूनियनें मजदूरों के लिये प्राथमिक पाठशाला हैं । लेकिन जो कोई भी मजदूरों को इस प्राथमिक पाठशाला तक ही सीमित रखता है वह क्रांति के साथ गद्दारी करता है क्योंकि समूचा ट्रेड-यूनियन संघर्ष मजदूर-पूंजीपति सम्बन्ध के भीतर चलता है तथा यह इस सम्बन्ध को तोड़ता नहीं । समूचे ट्रेड-यूनियन संघर्ष का बस इतना सा मतलब होता है कि श्रम शक्ति की बिक्री की शर्तों को मजदूरों के लिये थोड़ा लाभदायक बना लिया जाय । स्वयं श्रम शक्ति की खरीद-विक्री इस संघर्ष से नहीं समाप्त हो सकती है । इसके लिये मजदूर आन्दोलन को आगे जाना होगा ।

यह सब मार्क्सवाद का क-ख-ग है लेकिन दुर्भाग्यवश आज यह क-ख-ग भी भुलाया जा रहा है या बाई-पास किया जा रहा है । आज मजदूर आन्दोलन में सक्रिय क्रांतिकारी संगठन भी खुद को आर्थिक संघर्षों तक, ट्रेड-यूनियन संघर्षों तक सीमित रखे हुए हैं ।

इस अर्थवाद का आज एक वस्तुगत आधार भी है । भारत के मजदूर आन्दोलन पर दशकों से बुर्जुआ पार्टियों या माकपा-भाकपा संशोधनवादियों का कब्जा रहा है । यह सुविधापरस्त नेतृत्व भारतीय बुर्जुआ वर्ग के 1991 से पहले के कल्याणकारी राज्य का अंशतः उत्पाद और अंशतः समर्थक दोनों था । अपने इस चरित्र के कारण यह केवल मजदूरों के ऊपरी तबकों तक सीमित रहा था । नब्बे प्रतिशत मजदूर इस आन्दोलन की सीमा से बाहर थे ।

1980 के दशक से और खासकर 1991 से भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी नीति बदली और कल्याणकारी राज्य पर घावा बोल दिया । उसके इस आक्रमण की गाज मजदूरों पर और उसके सुविधापरस्त नेतृत्व पर गिरनी थी । पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा आकंठ भ्रष्ट यह सुविधापरस्त नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के आक्रमण के सामने नहीं टिक सकता था और नहीं टिका । फलस्वरूप मजदूर वर्ग एक के बाद एक पीछे हटने को मजबूर होता गया । उसमें जबरदस्त निराशा और पस्त-हिम्मती हावी हो गयी ।

इस भ्रष्ट तथा सुविधापरस्त नेतृत्व तथा निराशा-पस्तहिम्मती के कारण मजदूरों का ट्रेड-यूनियन संघर्ष भी अत्यन्त ढीला पड़ गया । मजदूर ट्रेड-यूनियन संघर्ष से भी कतराने लगे । हर फैक्ट्री-संस्थान में मालिकों के बढ़ते दबाव के बावजूद मजदूर लड़ने के बदले पीछे हटते रहे । देश में बड़े पैमाने पर मौजूद और बढ़ती बेरोजगारी ने इस प्रवृत्ति को और ज्यादा बढ़ाया ।

इस तरह कुल मिलाकर स्थिति यह हो गई कि ट्रेड-यूनियनों के अस्तित्व का ही संकट खड़ा हो गया । जो क्रांतिकारी संगठन ट्रेड-यूनियनों में सक्रिय थे उनका एकमात्र काम ट्रेड-यूनियनों को बचाना रह गया क्योंकि ट्रेड-यूनियनें तभी बची रह सकती थीं जब पूंजीपति के हमले को एक हद तक रोका जा सके ।

ट्रेड-यूनियनों को बचाने की इस जद्दोजहद में क्रांतिकारी संगठन अपना मूल राजनीतिक कार्य भूल गये । और जब इस मामले में दृष्टि धूमिल हो तथा स्वयं मजदूर आन्दोलन दशकों से सुधारवाद के दलदल में फंसा हुआ हो तो फिर कहना ही क्या ।

आज इस बात की आवश्यकता है कि बहुत सचेत चौर पर सुधारवाद से मुक्त रहा जाय। मजदूरों के बीच सघन क्रांतिकारी राजनीतिक प्रचार कार्य किया जाय तथा कुछ समय तक मजदूरों से अलग-थलग पड़े रहने का साहस किया जाय । मजदूरों में व्याप्त सुधारवाद और निराशा-पस्तहिम्मती से घबड़ाकर आम मजदूरों के स्तर पर न उतरा जाय । और न ही वर्तमान भ्रष्ट सुविधापरस्त ट्रेड-यूनियन नेताओं से कोई आशा पाली जाय चाहे वे फैक्ट्री-संस्थान स्तर के हों या ऊपर के । यह निश्चित माना जाय कि इन नेताओं को हटा कर नया क्रांतिकारी नेतृत्व ही मजदूर आन्दोलन में नयी जान फूंक सकता है। यह भी निश्चित माना जाय कि केवल नया क्रांतिकारी नेतृत्व ही क्रांति का लक्ष्य मजदूरों के सामने रखते हुए ट्रेड-यूनियन संघर्षों को आगे बढा सकता है तथा वर्तमान निराशा-पस्तहिम्मती से मजदूरों को निकाल सकता है । साथ ही

यह भी कि एक बार फिर दौर फैक्ट्री और संस्थान स्तर के संघर्षों का नहीं बल्कि समूचे उद्योग या क्षेत्र स्तर के संघर्षों का आ गया है । कुछ मामलों में तो यह संघर्ष केवल राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर ही विजयी हो सकता है ।

जब आवश्यकता इन बातों की हो तो यह देखना अत्यन्त कष्टदायक लगता है कि कुछ लोग मजदूर आन्दोलन में अपने को कानूनी कार्यवाहियों में फंसाये हुए हैं । वे श्रम न्यायलयों, कोर्ट-कचहरियों के चक्कर काट रहे हैं । मजदूरों को फौरी राहत दिलाने के लिये जो कुछ किया जा सकता है, किया जाना चाहिये किन्तु किसी भी हालत में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का यह प्रधान कार्य नहीं बनना चाहिये । यदि लगने लगे कि हमारे सीमित संसाधन इसी कार्यवाही में खप जा रहे हैं तो हमें निर्ममतापूर्वक इससे अपने आपको बाहर खींच लेना चाहिये । ऐसा करके हो सकता है कि हम तात्कालिक तौर पर कुछ आम मजदूरों की सहानुभूति खो दें लेकिन इससे संसाधनों की जो बचत होगी उससे मजदूरों को क्रांतिकारी तौर पर खड़ा करने में मदद मिलेगी । एक बार फिर यह कि इस कठिन दौर में हम आम मजदूरों से अलग-थलग रह जाने का साहस पालें तथा मजदूरों के बीच भविष्य के क्रांतिकारी आधार व संगठनकर्ता तैयार करें । हम एक-एक मजदूर तक जायें लेकिन सुधारवादी के रूप में नहीं बल्कि क्रांतिकारी के रूप में । हम याद रखें कि जब जमाना गैर क्रांतिकारी हो तो क्रांतिकारियों को अलग-थलग रहना पड़ता है । क्योंकि तब जनता या तो शासकों के साथ होती है या सुधारवादियों के साथ ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी यह तो और भी नहीं कर सकते कि वे बन्द होती फैक्ट्रियों को अपने हाथ में लेकर मजदूरों की सहकारी समितियों के रूप में चलायें । यह कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की रही-सही ऊर्जा को भी सोख लेगा तथा खुद मजदूरों में पेटी-बुर्जुआ विभ्रमों को जन्म देगा ।

इसी तरह सार्वजनिक उपक्रमों के निजीकरण के सवाल पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी सुधारवादी-नेहरू माडल मार्का समाजवादी-दृष्टिकोण नहीं अपना सकते । निजीकरण का विरोध केवल इसी दृष्टि-कोण से किया जाना चाहिये कि यह मजदूर वर्ग के जीवन को और कार्य की स्थितियों को बुरा बनायेगा इस दृष्टिकोण से नहीं कि ये उपक्रम तो जनता की गाढ़ी कमाई हैं जब कि निजी उपक्रम नहीं । नेहरूवादी माडल की वकालत करना तो और भी गलत है ।

IV

सामान्य जनवादी कार्यभारों के मामले में सुधारवाद

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में जो संगठन नव-जनवादी क्रांति की मंजिल की बात करते हैं उनका एक मुख्य तर्क यह होता है कि भारत में जनवाद नहीं है और आगे बढ़ने से पहले हमें जनवाद हासिल करना होगा ।

इन तर्कों से जो परोक्ष तौर पर ध्वनित होता है उसका मतलब यह होता है कि पूंजीपति वर्ग जनवाद का वाहक होता है तथा यदि वह भारत में सत्तानसीन होता तो भारत में किसी हद तक जनवाद होता । साथ ही यह कि बुर्जुआ लोकतंत्र में जनता को बहुत सारे जनवादी अधिकार हासिल होते हैं ।

इस मामले में हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी दो स्तरों पर गलतियां करते हैं । एक तो सामान्य बुर्जुआ जनवाद के चरित्र के बारे में तथा दूसरा खुद बुर्जुआ वर्ग के जनवाद के प्रति दृष्टिकोण के बारे में ।

अपने सबसे शुद्ध रूप में भी बुर्जुआ जनवाद पूंजीपति वर्ग की तानाशाही होता है । यदि अन्य परिस्थितियां इजाजत दें तो बुर्जुआ जनवाद पूंजीपति वर्ग के लिये शासन का सबसे अच्छा रूप है । इस सबसे अच्छे रूप में भी पूंजीपति वर्ग की सर्वहारा पर तथा बाकी मेहनतकश जनता पर तानाशाही जरा भी कम नहीं होती । यही नहीं, इस जनवाद में सर्वहारा और बाकी जनता को जो जनवाद मिला होता है वह हजारों तरह से सीमित, विकृत होता है । इसका सीधा सा कारण यह है कि राजनीतिक तौर पर औपचारिक बराबरी के बावजूद पूंजीवादी समाज में आर्थिक गैर बराबरी होती है और यह गैर बराबरी औपचारिक बराबरी के संचलन को सीमित और बाधित करती है । मतदान के समय एक-एक वोट डालने के अलावा पूंजीपति और मजदूर में कोई बराबरी नहीं होती । मजदूरों के पास न तो सभा करने के लिये जगहें उपलब्ध होती हैं, न अपने विचारों के प्रसार के लिये प्रेस व प्रचार माध्यम । मजदूर रोज-रोज अपने जनवाद की सीमाओं का अनुभव करता है । यही नहीं, कोई भी संकट आते ही पूंजीपति वर्ग जनवाद को निलंबित कर देता है-सभाओं, जुलूस-प्रदर्शनों पर रोक लगा देता है । और यह सब विकसित से विकसित और स्वतंत्र से स्वतंत्र देश में भी होता है ।

यह बुर्जुआ जनवाद भी पूंजीपति वर्ग जनता को देता नहीं है बल्कि यह उससे लड़ कर छीनना पड़ता है । यहां तक कि सार्विक मताधिकार के लिये भी पूंजीपति वर्ग से लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी है और कहीं बीसवीं सदी में जाकर ही यह हासिल हो पाया है । यानी पूंजीपति वर्ग स्वतः ही जनवाद का समर्थक नहीं होता । उसके होने का मतलब जनवाद का होना नहीं होता ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में लोग कह सकते हैं कि यह सारा कुछ तो हम जानते हैं । लेकिन समस्या तो यही है । ऊपरी तौर पर सारा कुछ जानने के बाद किया वह जाता है जो उसका उल्टा होता है बुर्जुआ जनवाद के बारे में हमारे यहां कुछ इस तरह से बात की जाती है कि बस वही हमारा लक्ष्य हो । वह मिल जायेगा तो सब कुछ हासिल हो जायेगा ।

यह तब अच्छी तरह से उजागर होता है जब भारत में जनवाद के न होने पर बात की जाती है । यह बात खम ठोक कर कही जाती है कि भारत में कोई जनवाद नहीं है कि जो कुछ है वह मात्र ढकोसला है । न केवल जनता को कोई जनवादी अधिकार हासिल नहीं हैं बल्कि संसद और विधान-सभाओं के चुनाव भी फर्जी हैं । सारा कुछ साम्राज्यवादियों और उनके दलाल पूंजीपति वर्ग तथा सामंती पिट्ठू पहले से तय करके बैठे होते हैं ।

भारत में मौजूद बुर्जुआ जनवाद के बारे में ऐसी बात केवल वही लोग कह सकते हैं जो खुद बुर्जुआ जनवाद को बहुत ऊंची नजर से देखते हों, उसे बहुत शानदार चीज समझते हों । केवल तभी वे उससे भारत के बुर्जुआ जनवाद की

तुलना करके उसे फर्जी घोषित कर सकते हैं । वस्तुतः बात यही है । लेकिन तब यह बात साबित होती है कि ये लोग खुद किस कदर बुर्जुआ जनवाद के भ्रम के शिकार हैं, उसके मोह से ग्रस्त हैं । ये लोग बुर्जुआ जनवाद के बारे में मार्क्सवाद की शिक्षाओं को सिरे से नकार देते हैं ।

चूंकि ये कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खुद भ्रम के शिकार हैं, उसके मोह से ग्रस्त हैं इसलिए वे जनता में इस भ्रम को फैलाते हैं । वे यह नहीं कहते कि बुर्जुआ जनवाद वैसा ही होता है जैसा कि भारत में है और इसलिए हमें समाजवादी जनवाद की ओर बढ़ना चाहिये । इसके बदले में यह कहते हैं कि भारत में मौजूद बुर्जुआ जनवाद फर्जी है और इसीलिये हमें असली जनवाद लाना चाहिये । इसका मतलब जनता के लिये यह निकलता है कि असली बुर्जुआ जनवाद कोई बहुत अच्छी चीज है । जनता कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के 'जनता के जनवाद' की ओर जाय या न जाय, उसका बुर्जुआ जनवाद में मोह बढ़ता है । इसका वैसे ही असर होता है जैसे जनता यह सोचती है कि यदि भ्रष्ट और पतित चुनावी नेता न होते तो सब कुछ बहुत अच्छा चलता । पूंजीपति वर्ग को अपनी व्यवस्था के पक्ष में और क्या चाहिये ? और क्रांतिकारियों की सारी सदिच्छाओं के बावजूद यह यदि सुधारवाद नहीं है तो और क्या है ?

बुर्जुआ जनवाद के बारे में अपनी गलत सोच और भ्रम के कारण ये कम्युनिस्ट क्रांतिकारी भारत में वस्तुतः मौजूद बुर्जुआ को और उसके मेकेनिज्म को नहीं देख पाते । और इसी कारण वे उसके परिणामों को भी नहीं देख पाते । वे 'ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण' की डींग हांकते रहते हैं और उनके पांव तले से जमीन खिसक जाती है ।

भारत में आम पूंजीवादी विकास और बुर्जुआ जनवाद की मौजूदगी को नकारने के कारण ये कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पूरे भारत के पैमाने पर मध्यम व निम्न कही जाने वाली जातियों की स्थिति में हुए परिवर्तन को नहीं देख पाते । लालू-मुलायम और मायावती उनके लिये अबूझ पहेली बने रहते हैं । वे नहीं देख पाते कि ठीक इस 'फर्जी' चुनाव प्रणाली का इस्तेमाल करके बुर्जुआ व्यवस्था ने गांव के सबसे वंचित दलित को भी अपने में समेट लिया है और वह अब अपनी मुक्ति के लिये कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की तरफ नहीं बल्कि 'बहन' मायावती की ओर देखता है तथा मायावती व अम्बेदकर की आलोचना सुनने पर मरने-मारने पर उतारू हो जाता है । इस पूरी प्रक्रिया को न समझ पाने का खामियाजा कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को भुगतना पड़ता है और वे अम्बेदकर के प्रति नरम पड़ते हुए अंततः उनके पैरोकार बन जाते है । यह 'ठोस विश्लेषण' का ठोस परिणाम होता है ।

आज भारत में जितना बुर्जुआ जनवाद मौजूद है उससे आगे का रास्ता और ज्यादा बुर्जुआ जनवाद नहीं बल्कि समाजवादी जनवाद है । इसलिए जो कोई भी आगे बढ़ने के लिये समाजवादी क्रांति के बदले नव-जनवादी क्रांति का नारा बुलंद करता है वह वस्तुगत तौर पर सुधारवाद कर रहा होता है ।

आम तौर पर बुर्जुआ जनवाद के प्रति और खास तौर पर भारत में इसकी मौजूदगी तथा मेकेनिनिज्म को न समझ पाने के कारण जाति, नारी और साम्प्रदायिकता के सवाल पर भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में सुधारवादी दृष्टिकोण व्याप्त है । इन सवालों पर अक्सर ही वर्गीय दृष्टिकोण गायब हो जाता है ।

इस मामले में सबसे पहली बात तो यह है कि बुर्जुआ विचारधारा के निरंतर प्रहार के प्रभाव में आकर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच भी यह भावना घर कर गयी है कि कम्युनिस्टों ने इन सवालों पर पहले उतना ध्यान नहीं दिया जितना दिया जाना चाहिये था । एक तरह का अपराधबोध उनके बीच हावी हो गया है । इन सवालों पर वे सफाई देने की मुद्रा में आ गये है। खास कर अम्बेदकरवादियों के सामने । इन सबके कारण आज वे इन सवालों पर उससे ज्यादा ध्यान दे रहे हैं जितना वर्गीय मुद्दों पर खास कर अपने वर्ग सर्वहारा पर ।

इन सवालों पर कम्युनिस्टों को कतई अपराधबोध में पड़ने और सफाई देने की जरूरत नहीं है । जनवादी कार्यभारों के रूप में कम्युनिस्टों ने हमेशा इन सवालों को उठाया है और किसी भी बुर्जुआ-सुधारवादी के मुकाबले ज्यादा पुरजोर तरीके से । यदि उनके उठाने के बावजूद ये सवाल समाज के एजेंडे पर नहीं आ पाये तो इसके वस्तुगत कारण थे । जहां तक कम्युनिस्टों की असफलता की बात है तो उनकी असफलता सामान्य असफलता थी - क्रांति न कर पाने की असफलता । वह केवल इन मुद्दों पर असफलता नहीं थी । जहां तक इच्छाओं की बात है तो अपनी लाख इच्छाओं के बावजूद अम्बेदकर 1930-40 के दशक में वह हासिल नहीं कर पाये जो आज मायावती इतनी आसानी से हासिल कर ले जा रही है । जमाना बदल गया है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन सवालों पर बात करते समय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का वर्गीय दृष्टिकोण गायब हो जाता है । वे आम तौर पर दलितों, आम तौर पर नारियों की बात करने लगते हैं । वे भूल जाते है कि दलित और नारियां भी वर्गों मे बंटी हुयी हैं । कि वे भी सर्वहारा, पेटी-बुर्जुआ और पूंजीपति वर्ग में बंटे हुए हैं । कि एक पूंजीपति महिला और एक मजदूर महिला में कोई समानता नहीं है, कि एक पेटी-बुर्जुआ महिला और उसके धर में काम करने वाली नौकरानी में बहुत कम समानता है । कि मायावती और दलित खेतीहर मजदूर में कोई समानता नहीं है, कि फैक्ट्री में दलित इंजीनियर और दलित मजदूर में बहुत कम समानता है ।

दलित और नारी सवाल पर वर्गीय दृष्टिकोण का गायब होना या धूमिल पड़ना वर्ग सहयोगवादी रूख को, सुधारवाद को जन्म देता है । इससे सबसे ज्यादा फायदा पूंजीपति वर्ग, खासकर दलित पूंजीपति वर्ग को होगा कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी सभी दलितों को एक मानें । यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अम्बेदकर जयंती मनायें तो इससे सबसे ज्यादा खुशी मायावती को होगी ।

वर्गीय दृष्टिकोण को गायब कर धूमिल कर आज नारी या दलित सवाल पर जितनी भी कार्यनीति प्रस्तावित की जा रही है, वे सब सुधारवादी हैं, चाहे वह अम्बेदकर-फूले से वैचारिक ताल-मेल बिठाने की बात हो, चाहे वह पार्टी व जन संगठनों में नारियों व दलितों को प्रोत्साहित करने की बात हो, चाहे वह नव-जनवादी क्रांति के बाद इन्हें आरक्षण देने की बात हो, चाहे वह बसपा के प्रति नरम रुख अपनाने की बात हो या चाहे कुछ और । और हमेशा की तरह इस सारे कुछ से फायदा पूंजीपति वर्ग को, खासकर दलित पूंजीपति वर्ग को हो रहा है । कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के वैचारिक तौर पर 'नरम' पड़ने से उनका पिलपिलापन ही जाहिर होता है और दलित इन्हें छोड़कर 'अपनी जाति' की पार्टी बसपा के साथ जा खड़े होते हैं । इनका 'नरम' पड़ना पापों की स्वीकारोक्ति जैसा लगता है ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को समझना चाहिये कि दलित और नारी सवाल पर भी यह एक वर्ग-संघर्ष है - वैचारिक संघर्ष । और इस वैचारिक संघर्ष में वे अपने शत्रु के प्रति जरा भी नरम नहीं पड़ सकते, उसे जरा भी छूट नहीं दे सकते । नरम पड़ने और छूट देने का मतलब है शत्रु की जीत । दलितवादियों और नारीवादियों से सीधी टक्कर, समझौताविहीन संघर्ष और बिल्कुल भिन्न वैकल्पिक कार्यक्रम से ही हम मजदूर, मेहनतकश, दलित-नारियों को हम अपनी ओर ला सकते हैं तथा उन्हें जाति और नारी सवाल के सही समाधान की ओर ले जा सकते है ।

इसी तरह साम्प्रदायिकता के सवाल पर बात करते हुए उसे वर्तमान व्यवस्था के पतन तथा शासक वर्ग की नीतियों से नहीं जोड़ा जाता है तथा इसे केवल वैचारिक परिघटना या किसी खास पार्टी का कारनामा माना जाता है तो यह केवल सुधारवादी निष्कर्षों तक ले जायेगा । इस सवाल पर भी बार-बार वर्गीय दृष्टिकोण पर जोर देने की जरूरत है । समाधान के तौर पर क्रांति यदि अनिवार्य शर्त के तौर पर पेश नहीं की जाती तो सारी बातों का कोई अर्थ नहीं रह जाता । सारा कुछ सुधारवाद में सिमट जाता है । फिर करते रहिये सभाओं-गोष्ठियों-सेमिनारों में आत्मकेन्द्रित बुद्धिजीवियों से गलचौड़ !

V

राष्ट्र के सवाल पर सुधारवाद

एक वक्त था जब हर देश का कम्युनिस्ट वैश्विक क्रांति के संदर्भ में ही अपने देश में क्रांति के बारे में सोचता था । तब उसकी सोच में यह बात अन्तर्निहित होती थी कि उसकी क्रांति का वैश्विक क्रांति पर क्या असर पड़ेगा तथा वैश्विक क्रांति के संदर्भ में उसके देश की क्रांति कहां खड़ी है ।

लेकिन आज अन्तर्राष्ट्रवाद की सारी बातें औपचारिक या तकनीकी हो गयी हैं । ऐसा नहीं कि वैश्विक क्रांति की बातें आज होती नहीं है । वे होती है लेकिन खानापूर्ति के अन्दाज में । वे प्रस्थान बिन्दु तो होती ही नहीं हैं, प्रस्थान बिन्दु का हिस्सा भी नहीं होती । वे विवाह के निमंत्रण पत्र में छपे श्लोक की तरह शुरू में लिख दी जाती हैं । काम की बातें तो बाद में होती हैं ।

वैश्विक क्रांति का पृष्ठभूमि में चले जाना और अपने देश की क्रांति का हावी हो जाना तीसरी दुनिया के देशों में साम्राज्यवाद के प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम है । साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति इन देशों में क्रांति का एक प्रमुख कार्यभार है, चाहे क्रांति नव-जनवादी हो या समाजवादी। खासकर नव-जनवादी क्रांति के लिये संघर्ष में साम्राज्यवाद से मुक्ति का सवाल स्वभावतः ही देशभक्ति की भावना को जन्म देता है ।

कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीयतावादी होते हैं । वे देशभक्त भी होते हैं लेकिन उनकी देशभक्ति गौण होती है जबकि अंतर्राष्ट्रवाद प्रधान । दोनों के आमने-सामने खड़े होने की स्थिति में वे अन्तर्राष्ट्रवाद को चुनते हैं और वे इस बात को छिपाते भी नहीं । इस अर्थ में वे हर जगह और हर देश में अपने देश के प्रति गद्दार होते हैं ।

लेकिन साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में कम्युनिस्ट अपने इस मूल अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र को भुला बैठते हैं और पक्के देशभक्त बन जाते हैं । वैश्विक क्रांति उनकी नजरों से ओझल हो जाती है और राष्ट्रीय क्रांति हावी हो जाती है । अक्सर ही यह ध्वनित होता है कि वे बुर्जुआ वर्ग से प्रतियोगिता कर अपने आपको उससे ज्यादा राष्ट्रवादी और देशभक्त साबित कर रहे हैं । वे शिकायत करते है कि पूंजीपति वर्ग देश के हितों के साथ गद्दारी कर रहा है तथा वे देश के हितों के रक्षक के तौर पर सामने आते हैं । लेकिन यह सब करते वक्त वे अन्तर्राष्ट्रीयता की कोई बात नहीं करते । नतीजा यह निकलता है कि इनमें और राष्ट्रवादियों के बीच में कोई फर्क नहीं रह जाता । विश्व व्यापार संगठन और वैश्वीकरण का विरोध करने के मुद्दे पर इनके और पेटी-बुर्जुआ राष्ट्रवादियों के बीच फर्क करना मुश्किल होता है । इन मुद्दों पर वे जिस तरह छाती पीट कर देश की तबाही का रोना रोते हैं वह खासा राष्ट्रवादी होता है ।

खासकर आज जब समूचा पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी हो गया है तथा तीसरी दुनिया का पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग से एक तरह से एकाकार हो रहा है तब कम्युनिस्टों को अपने और पूंजीपति वर्ग के बीच साफ विभाजन रेखा खींचनी चाहिये तथा पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रवाद के खिलाफ सर्वहारा के अन्तर्राष्ट्रवाद का नारा ज्यादा जोर से बुलन्द करना चाहिये । आज वैश्विक क्रांति का संदर्भ पहले के किसी भी समय के मुकाबले में ज्यादा साफ हो गया है और इसीलिये हर देश की क्रांति को वैश्विक क्रांति से ज्यादा नजदीक से जुड़ना चाहिये ।

आज कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को न तो बुर्जुआ वर्ग के किसी धड़े के प्रति भ्रम पालना चाहिये और न ही राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करना चाहिये । इसके मुकाबले उन्हें अन्तर्राष्ट्रवाद पर ज्यादा जोर देना चाहिये । खासकर तब जब भारत का पूंजीपति वर्ग पड़ोसी मुल्कों के प्रति अन्धराष्ट्रवाद फैलाता है तो उन्हें दृढ़तापूर्वक इसके खिलाफ खड़ा होना चाहिये भले ही वो कुछ समय के लिये जनता से अलग-थलग पड़ जायें । उन्हें दृढ़तापूर्वक सभी देशों की मजदूर-मेहनतकश जनता के भाईचारे और एकजुटता का नारा बुलंद करना चाहिये । कम्युनिस्ट क्रांतिाकारियों के लिये तो यह और भी अक्षम्य होगा कि वे भारतीय सेना और पड़ौसी मुल्कों के खिलाफ उनकी कार्यवाहियों के प्रति कोई देशभक्ति प्रदर्शित करें । उन्हें अपने देश की सेना के खिलाफ दृढ़तापूर्वक खड़े होना होगा और युद्ध का विरोध करना होगा चाहे युद्ध का बहाना कुछ भी क्यों न हो ।

संक्षेप में यह कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संकीर्ण राष्ट्रीय सोच का लुत्फ नहीं उठा सकते । उन्हें सच्चे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रवादी बनना ही होगा । अन्यथा सुधारवाद से उन्हें कोई नहीं बचा सकता।

VI

जनता के बीच काम में सुधारवाद

जनता के बीच काम के तरीके में भी आज काफी ज्यादा सुधारवादी भटकाव मौजूद हैं। इन भटकावों में सबसे प्रबल है सुधार की कार्यवाहियां करके जनता को अपनी ओर लाने की कोशिश करना । चाहे खुले आम कहा जाय

या न कहा जाय इसमें यह सोच मौजूद रहती है कि सीधे राजनीतिक मुद्दों पर और खासकर क्रांतिकारी मुद्दों पर व्यापक जनता साथ नहीं आयेगी । उसे अपने साथ लाने के लिये उसके बीच सुधारवादी कार्य किया जाना चाहिये । एक बार साथ आ जाने पर उसके बीच राजनीतिक प्रचार कार्य किया जा सकता है ।

कुछ लोग तो और आगे गये हैं उन्होंने सुधारवादी कार्यवाहियों का एक पूरा सिद्धान्त ही पेश कर दिया है । उनके अनुसार सुधारवादी कार्यवाहियां करके कम्युनिस्टों को इस व्यवस्था के भीतर समानान्तर सत्ता के रूप में उभरना चाहिये तभी वे सत्ता पर कब्जा करने लायक बन सकते हैं ।

इसी तरह सशस्त्र संघर्ष के इलाकों में भी जनता की सत्ता के नाम पर जो कुछ किया जा रहा है वह महज सुधारवादी कार्यवाहियां हैं ।

सुधार के कार्यों के प्रति यह सोच वही अर्थवादी सोच है जिससे सिद्धान्त रूप में सभी कम्युनिस्ट भली-भांति वाकिफ हैं । इसमें जनता की राजनीतिक चेतना को ग्रहण करने की क्षमता को कम करके आंका जाता है तथा जनता को बहला-फुसला कर, लालच देकर अपने साथ लाने की कोशिश की जाती है । यह नहीं देखा जाता है कि साथ आयी जनता लालच पूरा होने और न होने दोनों स्थितियों में साथ छोड़ कर चली जाायेगी । केवल राजनीतिक चेतना सम्पन्न जनता ही दूरगामी तौर पर साथ टिकेगी।

यही नहीं, जनता के आंशिक संघर्षों को केवल क्रांतिकारी तरीके से चलाकर ही क्रांतिकारी अपने कर्तव्य का पालन कर सकते हैं । आंशिक संघर्षों के संचालन के समय भी क्रांति का वृहत्तर परिप्रेक्ष्य उनकी नजरों से ओझल नहीं होना चाहिये, तथा इसे लगाातार संघर्षरत जनता के सामने स्पष्ट किया जाना चाहिये । आंशिक संघर्ष के समय भी मुद्दे विशेष को संदर्भ के तौर पर इस्तेमाल करते हुए यदि पूरी राजनीतिक व्यवस्था का भंडाफोड़ नहीं किया जाता तथा केवल मुद्दे तक ही अपने को सीमित रखा जाता है जो यह सुधारवाद होगा ।

इस ठंडे और निराशा-पस्तहिम्मती के दौर में यह साफ है कि लाखों-लाख जनता कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के साथ नहीं आ रही है । कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन जन-जन की पार्टी बनने के बदले मोटा-मोटी सम्प्रदाय बने हुए हैं । ऐसे में व्यापक जनता को अपने पीछे लामबन्द करने की उनकी छटपटाहट समझ में आने वाली बात है । लेकिन इस छटपटाहट में यदि वे अपनी राजनीति और अवस्थिति का तनुकरण करते है तो यह बहुत घातक होगा । व्यापक जनता कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के साथ आये या न आये उसके सामने इनके और संशोधनवादियों तथा बुर्जुआ पार्टियों के बीच विभाजक रेखा हर मुद्दे पर साफ होनी चाहिये । जनता तक अपनी पहुंच बनाने के प्रयास में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अपनी अवस्थिति इतनी ढीली नहीं कर सकते कि इनमें और बाकियों में फर्क खत्म हो जाय । दुर्भाग्य से तनुकरण की यह प्रवृत्ति आज आन्दोलन में काफी ज्यादा हावी है चाहे वह संयुक्त मोर्चा बनाने के नाम पर हो या जन-जन को गोलबन्द करने के नाम पर ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को यह हमेशा याद रखना चाहिये कि उनका काम निम्न चेतना के स्तर पर खड़ी जनता को ऊपर उठा कर क्रांति की चेतना पर ले आना है न कि खुद नीचे उतरकर जनता की निम्न चेतना पर पहुंच जाना है ।

बदहवास होकर नीचे उतरने के बदले हमें निरंतर क्रांतिकारी राजनीतिक प्रचार करते हुए इंतजार करना चाहिये कि वस्तुगत परिस्थितियों के दबाव और हमारे प्रचार के फलस्वरूप जनता ऊपर आना शुरू करे ।

आज मजदूर मोर्चे पर एक अजीब सी चुप्पी छाई है । बहुत ज्यादा निराशा-पस्तहिम्मती का माहौल है । इसके शिकार कम्युनिस्ट क्रांतिकारी भी हो रहे हैं । बहुत मेहनत करने के बाद भी मजदूर काफी कम संख्या में क्रांतिकारी संगठनों के साथ जुड़ रहे हैं । जुड़ रहे मजदूरों का राजनीतिक विकास भी काफी धीमा है । इसका एक परिणाम यह भी है कि इस मोर्चे पर पूरी ताकत से जूझने और मजदूरों में अपनी पैठ बनाने के बदले कई सारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन स्वयं-स्फूर्तता का शिकार होकर देश के सबसे पिछड़े लोगों - आदिवासियों - में जा पहुंचे है । यहां तक कि वे किसानों से भी दूर जा रहे हैं (अपनी नव-जनवादी क्रांति की गलत सोच के चलते वे अभी तक किसानों में ही केन्द्रित थे) । ढूंढ-ढूंढ कर देश की सबसे बड़ी और सबसे विकसित फैक्ट्रियों तथा सबसे बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने के बदले वे ढूंढ-ढूंढ कर देश के सबसे पिछड़े-आदिवासियों के बीच जा रहे हैं । स्वयं-स्फूर्तता की भी एक सीमा होती है !

इस सबका परिणाम क्या निकल रहा है ? क्रांति के लिये मजदूरों के गोलबंद होने के बदले पूंजीवाद का विकास हो रहा है । घात-प्रतिघात के सहारे पूंजीवाद वहां प्रवेश कर रहा है जहां तक वह अभी नहीं पहुंचा था । सुधार क्रांति के उप उत्पाद होते हैं वह यहां चरितार्थ हो रहा है । लेकिन क्रांतिकारियों की सारी शक्ति यहीं लगी होने के कारण यह सुधारवाद के अलावा और कुछ नहीं है ।

मजदूर वर्ग के बीच काम की कठिन चुनौतियों से घबड़ाकर यदि कुछ कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन अत्यन्त पिछड़े आदिवासियों के बीच घुसते जा रहे हैं तो कुछ अन्य इसके दूसरे छोर पर पेटी-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के बीच पलायन कर रहे हैं । इसके लिये वे सर्वहारा प्रबोधन और पुनर्जागरण की मुकम्मल थीसिस भी गढ़ रहे हैं । आन्दोलन की चुनौतियों से जूझने के बदले वे साहित्य कला और पेटी-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की दुनिया में मस्त हैं। इस दुनिया से कभी-कभार बाहर निकलने पर वे खांटी मार्क्सवादी प्रचार और बच्चा क्रांतिकारी फौज की खिचड़ी पकाने लगते हैं । कुछ लोग तो और भी पतित हुए हैं और जनता को क्रांति के लिये राजनीतिक तौर पर संगठित करने के बदले जनता को देखने गांव में जा पहुंचे हैं मानो गांव कोई चिड़ियाघर हो और वहां रहने वाले लोग विचित्र जीव !

जनता के बीच काम में, जन कार्यवाहियों में सुधारवाद एक अन्य रूप में भी अभिव्यक्त होता है जो अत्यन्त खतरनाक है । यह है अपने को केवल कानूनी दायरे तक सीमित रखना और इस दायरे का उल्लंघन करने से लगातार बचना । यह प्रवृत्ति अत्यन्त घातक है और क्रांतिकारी संगठनों और व्यक्तियों के क्रांतिकारी सत्व को सोख लेती है । ऊपरी तौर पर क्रांतिकारी बातें करते हुए भी यह संगठन और व्यक्ति महज लफ्फाज बन कर रह जाता है । और संकट का पहला धक्का ही उसे बेनकाब कर क्रांति की पातों से बाहर धकेल देता है । दूसरे इंटरनेशनल के पतन का अति कीमती सबक हमारे सामने है ।

VII

और अन्त में

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन में ये सुधारवादी प्रवृत्तियां क्यों पैदा हो रही हैं और फल-फूल रही हैं ? इसके तीन प्रमुख कारण हैं ।

जैसा कि बार-बार इंगित किया जा चुका है, नव-जनवादी क्रांति के कुछ प्रस्तोताओं द्वारा की जा रही घोषणाओं के बावजूद आज क्रांति की वस्तुगत परिस्थिति अत्यन्त कमजोर है। आज सामान्यतः वैश्विक पैमाने पर और हमारे देश में भी माहौल ठंडा है । चारों ओर निराशा और पस्तहिम्मती छाई है । यह इसके बावजूद कि सारी दुनिया के पैमाने पर ही पूंजीपति वर्ग चैन से नहीं बैठ पा रहा है । चारों तरफ अफरा-तफरी है, मारकाट है और है हर तरफ अशांति । लेकिन यह सब अभी क्रांति की ओर उन्मुख नहीं हैं । व्यवस्था का यह संकट क्रांतिकारी संकट की तरफ अभी नहीं बढ़ रहा है । हां, यह निश्चित है कि निराशावादियों की सारी घोषणाओं के बावजूद यही संकट देर-सबेर माहौल को गरमायेगा और क्रांतिकारी संकट को जन्म देगा ।

शासक वर्गों का हावी होना तथा निराशा और पस्तहिम्मती हमेशा ही कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच 'वामपंथी' दुस्साहसवाद तथा दक्षिणपंथी अवसरवाद की दोनों प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं । कुछ लोग जनता की निष्क्रियता से अपना धैर्य खोकर जनता के बिना ही क्रांति करने निकल पड़ते है तथा 'वामपंथी' दुस्साहसवाद के शिकार हो जाते हैं । ये ऐसे लोग होते हैं जिनमें धैर्यपूर्वक लम्बे समय में जनता को क्रांति के लिए तैयार करने की क्षमता नहीं होती ।

लेकिन इन दोनों में कहीं खतरनाक प्रवृत्ति दक्षिणपंथी अवसरवाद की है जो किसिम-किसिम के सुधारवाद में अपने को अभिव्यक्त करती है । शासक वर्ग के दबाव और जनता की निष्क्रियता के चलते क्रांति के कठिन कार्य से पलायन और सुधारवाद में डूब जाना इस दौर की खासी विशेषता होती है । जैसा कि कहा गया है क्रांतिकारी दौर में, क्रांति के समय तो हर बदमाश क्रांतिकारी हो जाता है लेकिन गैर क्रांतिकारी समय में क्रांतिकारी बने रहना उतना ही मुश्किल होता है ।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन के टूट-फूट और विखराव ने भी आन्दोलन में सुधारवाद के फलने-फूलने में काफी भूमिका अदा की है । इस टूट-फूट और विखराव ने एक ओर तो निराशा और पस्तहिम्मती को बढ़ाया है और दूसरी ओर वैचारिक परिपक्वता के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा खड़ी की है । छोटे-छोटे संगठनों का नेतृत्व अपनी वैचारिक समझदारी और अनुभव दोनों में ही बहुत अपरिपक्व हैं । और इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता । यहां जंगल के बदले पेड़ों को देखने की बात नहीं है । यहां तो अपने पेड़ को ही जंगल मान लिया जाता है । इतनी अपरिपक्वता के चलते सुधारवाद के दल-दल में फंस जाना बहुत आसान बात है ।

सुधारवाद का तीसरा कारण हमारे देश का व्यापक पेटी बुर्जुआ वातावरण और अभिजात मजदूर वर्ग । कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठनों का काम या तो किसानों में है या फिर अभिजात मजदूर वर्ग में । ऊपर से सारे समाज का पेटी बुर्जुआ

वातावरण है ही । ऐसे में सुधारवाद की प्रवृत्तियां स्वतः ही जन्म लेती रहेंगी । सुधारवाद के लिये खाद-पानी का पर्याप्त आधार मौजूद है ।

उपरोक्त से दो बातें स्पष्ट हैं । कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को दो चुनौतियों से निपटना ही होगा । ये दो चुनौतियां है, निम्न सैद्धान्तिक स्तर और मजदूर वर्ग के बीच काम ।

आज भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन का सैद्धान्तिक स्तर बहुत नीचा है । इसी निम्न सैद्धान्तिक स्तर के कारण बहुत सारे संगठन बहुत ईमानदारीपूर्वक सुधारवाद को क्रांति मान ले रहे हैं ।

यह सैद्धान्तिक स्तर कितना निम्न है यह विभिन्न संगठनों द्वारा प्रकाशित पत्र- पत्रिकाओं और उनके द्वारा जारी दस्तावेजों से पता चल जाता है । यदि उनमें कोई चीज स्तरीय होती है तो पुराने क्लासिकों से उधार ली गयी बातें और वह भी बेहद घिसे-पिटे और उबाऊ अंदाज में पेश की जाती हैं । ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के नाम पर पुराने सूत्रीकरणों को बेहद बेशर्मी और हठधर्मिता से पेश कर दिया जाता है । इन सब को पार्टी कार्यकर्ता केवल कर्तव्यवश ही पढ़ पाते है ।

नतीजा यह है कि कई सारे संगठनों के सबसे बड़े बुद्धिजीवी उनके हमदर्द हैं, नेता नहीं। बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के विश्लेषणों को क्रांतिकारी संगठन स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रभावित होते हैं ।

आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां अत्यन्त जटिल हैं । ये जटिल परिस्थितियां सुलझे हुए विश्लेषण की मांग करती हैं । लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पुराने सूत्र दुहराकर संतुष्ट हैं क्योंकि चुनौतियों को स्वीकार कर सकने लायक उनकी क्षमता नहीं है ।

स्थिति कितनी दयनीय है इसका पता लेनिन और माओ के समय से तुलना करते ही पता चल जाता है । लेनिन और माओ, दोनों ने मार्क्सवाद का सृजनात्मक विकास किया और उसे नयी ऊंचाइयों तक पहुंचाया । लेकिन यह सब उन्होंने न तो हवा में कर लिया और न ही वट बृक्ष के नीचे बैठ कर । लेनिन के पीछे दूसरे इंटरनेशनल की श्रेष्ठ परंपरा थी जिसे शुरूआती निर्देशन सीधे एंगेल्स से मिला था । लेनिन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण दूसरे इंटरनेशनल की सीधी परंपरा में हुआ था । वे काउत्स्की और प्लेखानोव के सबसे अच्छे दौर में क्रांतिकारी आन्दोलन में प्रशिक्षित हुए थे । उन्होंने दूसरे इंटरनेशनल की परंपरा में जो कुछ भी अच्छा था, उसे ग्रहण किया था । वह परंपरा क्या थी इसे जानने के लिये तब की काउत्स्की और प्लेखानोव की रचनाओं पर निगाह डाल लेना ही पर्याप्त होगा ।

इसी तरह माओ तीसरे इंटरनेशनल द्वारा प्रशिक्षित हुए थे : सीधे लेनिन और स्तालिन की रचनाओं द्वारा और उस दौर की तीखी बहसों द्वारा ।

आज इन सबके मुकाबले हम कहां खड़े है? कहां है हमारा क्रांतिकारी वैचारिक प्रशिक्षण? क्या उबाऊ ढंग से दुहराये गये पिटे-पिटाये सूत्रों में? क्या एक दूसरे को गालियां देने वाली और ठप्पा लगाने वाली बहसों में ?

जरूरत इस बात की है कि इस दुष्चक्र से बाहर आया जाय तथा गंभीर राजनीतिक विचार-विमर्श और बहस-मुबाहसा किया जाय । केवल इसी तरीके से आन्दोलन के सैद्धान्तिक स्तर को ऊंचा उठाकर वहां पहुंचाया जा सकता

है जहां वह दरपेश चुनौतियों से निपट सके । वक्त आ गया है कि हम लेनिन के कहे अनुसार 'सच्चे बुद्धिमान' कम्युनिस्ट बन जायें और इस कहावत से मुक्ति पा लें कि जो ज्यादा पढ़े-लिखेगा वह मूर्ख हो जायेगा ।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को, चाहे वे क्रांति की जो भी मंजिल मानते हों और जो भी रास्ता मुफीद समझते हों, उन्हें अपना प्रधान कार्य क्षेत्र औद्योगिक मजदूर वर्ग को बना लेना चाहिये । इस समय वक्त की यही मांग है । केवल औद्योगिक मजदूर वर्ग को इंकलाब के लिये संगठित करने की प्रक्रिया में ही वह चीज पैदा होगी जो कम्युनिस्टों को अपनी बाकी अन्य समस्याओं को हल करने में मदद करेगी चाहे वह पूरे आन्दोलन को एक करने की समस्या हो या क्रांति की मंजिल तय करने की समस्या ।

उपरोक्त दोनों चुनौतियों को स्वीकार कर ही आन्दोलन में छायी सुधारवाद की बीमारी से निपटा जा सकता है। अन्य कोई रास्ता नहीं है।